जैन-दर्शन में द्रव्य की अवधारणा

श्री कपूर चन्द जैन

जीव और जगत्—मानव की आदितम समस्यायें रही हैं, क्या नहीं किया है उसने इन समस्याओं को सुलझाने के लिए, किन्तु क्या फिर भी मानव आज तक इन समस्याओं को सुलझा पाया है ? उत्तर नकारात्मक ही होगा। किन्तु क्या उत्तर की नकारात्मकता को सोचते हुए चिन्तन छोड़ा जा सकता है, पशुओं के खाने के भय से खेती नहीं छोड़ी जाती, यही कारण है कि संसार के लगभग सभी दर्शनों ने जीव और जगत् की विस्तृत व्याख्या की है।

भारतीय दर्शनों में जैन-दर्शन ने जगत् की उत्पत्ति और उसके स्वरूप पर विस्तृत विचार किया है। आज जिस अणु या परमाणु का विश्व में संहारक रूप दिखाई दे रहा है तथा जिसकी उपलब्धि वैज्ञानिकों की अप्रतिम उपलब्धि कही जा रही है उसके सम्बन्ध में सदियों पूर्व जैनाचार्य विस्तृत विवेचना कर चुके थे। जैन-दर्शन के अनुसार विश्व छः द्रव्यों में बंटा है। द्रव्य का लक्षण करते हुए आचार्य कुन्दकुन्द ने कहा है—

दव्वं सल्लक्खणियं उप्पादव्वयधुवत्तसंजुत्तं।
गुणपज्जयासयं वा जं तं भण्णंति सव्वण्हू॥[1]

अर्थात् द्रव्य का लक्षण तीन प्रकार से है, प्रथम—द्रव्य का लक्षण सत्ता है, द्वितीय—द्रव्य का लक्षण उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य संयुक्त है, तथा तृतीय—द्रव्य का लक्षण गुणपर्यायाश्रित है। इन्हीं लक्षणों का विशदीकरण करते हुए आचार्य उमास्वामी कहते हैं—**सद्द्रव्यलक्षणम्** तथा **उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्**[2] द्रव्य का लक्षण सत् है तथा सत् वह है जिसमें उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य तीनों हों। अपनी जाति को न छोड़ते हुए, चेतन और अचेतन द्रव्य को जो अन्य पर्याय को प्राप्त होती है उसे उत्पाद कहते हैं। अपनी जाति का विरोध न करते हुए चेतन-अचेतन द्रव्य की पूर्व पर्याय का जो नाश है वह व्यय कहलाता है तथा अनादि स्वभाव के कारण द्रव्य में जो उत्पाद, व्यय का अभाव है, वह ध्रौव्य है।[3]

द्रव्य का तीसरा लक्षण ***गुणपर्ययवद्द्रव्यम्***[4] *है अर्थात् द्रव्य, गुण और पर्यायों वाला होता है। यहां भी द्रव्य का वही लक्षण है* जो ऊपर है, केवल शब्दों का अन्तर है। द्रव्य की विशेषता को गुण कहते हैं तथा द्रव्य के विकार को पर्याय कहा जाता है। इस विकार या विक्रिया शब्द का अर्थ उत्पाद और व्यय है। किसी वस्तु की जब उत्पत्ति होती है तो उसमें पूर्व स्थिति का विनाश (व्यय) और नयी स्थिति का सृजन (उत्पाद) होता है। यही विक्रिया या विकार है। जीव के असाधारण गुण ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य आदि हैं और साधारण गुण वस्तुत्व, प्रमेयत्व, सत्व आदि स्वीकार किये गये हैं। इसी प्रकार रूप, रस गन्ध, स्पर्श पुद्गल के असाधारण गुण हैं तथा धर्म, अधर्म, आकाश और काल के क्रमशः गति-हेतुत्व, स्थिति-हेतुत्व, अवागाहननिमित्तत्व और वर्तनाहेतुत्व असाधारण गुण स्वीकार किये हैं। इन पांचों (पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल) के साधारण गुण वस्तुत्व, सत्व, प्रेमयत्व आदि हैं।

यहां प्रश्न उठ सकता है कि उत्पाद और व्यय परस्पर विरोधी गुण हैं और दो विरोधी गुणों का एक आधार में रहना सम्भव नहीं है। फिर ये दोनों कैसे रहते हैं ? किन्तु ऐसा प्रश्न निराधार है। अतः एक ही द्रव्य में अवस्था विशेष से तीनों गुण रह सकते हैं। यह बात एक दृष्टान्त द्वारा सुगम रीति से स्पष्ट हो सकेगी—कोई व्यक्ति, जिसके पास सोने का हार है, अपने हार से कड़ा बनवाना चाहता है। ऐसी

१. कुन्दकुन्द : पंचास्तिकाय, परम श्रुतप्रभावक मण्डल, वि. सं. १९७२, गाथा १०
२. उमास्वामी : तत्वार्थ सूत्र, वर्णी ग्रन्थमाला, वी. नि. सं. २४७६, ५/२९-३०
३. अमृतचन्द्र सूरि : तत्वार्थसार, वर्णी ग्रन्थमाला, सन् १९७० ई०, ३/६-७-८
४. उमास्वामी : तत्वार्थ सूत्र, ५/३८

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्थिति में सोने की हार रूप पर्याय का तो विनाश (व्यय) हुआ तथा कड़ा रूप पर्याय का सृजन (उत्पाद) हुआ, किन्तु सोना तो दोनों ही अवस्थाओं में ज्यों का त्यों (ध्रौव्य) है; पहले भी सोना था अब भी सोना है।

द्रव्य शब्द की व्युत्पत्ति करते हुए कहा गया है—**अद्रुवत्, द्रवति, द्रोष्यति तांस्तान् पर्यायान् इति द्रव्यम्** जो भिन्न-भिन्न अवस्थाओं को प्राप्त हुआ, हो रहा है और होगा वह द्रव्य है अर्थात् अवस्थाओं का उत्पाद और विनाश होते रहने पर भी जो ध्रुव रहता है वह द्रव्य है। इससे यह भी फलित होता है कि संसार में जितने द्रव्य थे, उतने ही हैं और उतने ही रहेंगे। उनमें से न कोई घटा है, न घट रहा है और न घटेगा ही। न कोई बढ़ा है, न बढ़ रहा है और न बढ़ेगा ही। सभी द्रव्य नित्य अवस्थित रहते हुए जन्म और मृत्यु, उत्पाद और नाश पाते रहे हैं, पा रहे हैं और पाते रहेंगे।

द्रव्य-भेद

जैन दर्शन में द्रव्यों की संख्या छः स्वीकार की गई है जबकि वैशेषिक दर्शन में नव द्रव्यों की अवधारणा है। जैन दर्शन सम्मत छः द्रव्य जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल है।[1] वैशेषिक दर्शन सम्मत नव द्रव्य—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, काल, दिक्, आत्मा और मन हैं।[2] इनमें आकाश और काल द्रव्य दोनों में समान हैं। आत्मा और जीव एक ही हैं। पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु शरीर रूप होने से अर्थात् मूर्तिक होने के कारण पुद्गल में ही अन्तर्भूत हो जाते हैं। दिक् चूंकि आकाश का ही एक विशिष्ट रूप है अतः उसे आकाश में अन्त-र्भूत माना जा सकता है। मन-द्रव्यमन और भावमन के भेद से दो प्रकार का है अतः द्रव्यमन का पुद्गल में तथा भावमन का जीव में अन्तर्भाव हो जाता है। धर्म और अधर्म की कल्पना वैशेषिक दर्शन में नहीं है। ये दोनों केवल जैन दर्शन में ही कल्पित हैं।

इन द्रव्यों का विभाजन तीन दृष्टियों से किया जा सकता है—

१. चेतन-अचेतन की दृष्टि से। इस दृष्टि से जीव चेतन द्रव्य तथा बाकी पांच अचेतन द्रव्य।[3]

२. मूर्तिक-अमूर्तिक की दृष्टि से। इस विभाजन में पुद्गल मूर्तिक होगा, बाकी पांच अमूर्तिक।[4]

३. अस्तिकाय-अनस्तिकाय की दृष्टि से। इस दृष्टि से काल अनस्तिकाय होगा तथा बाकी पांच अस्तिकाय।[5]

यह विभाजन निम्न प्रकार होगा—

द्रव्य

	जीव	पुद्गल	धर्म	अधर्म	आकाश	काल
१. चेतन-अचेतन दृष्टि से	चेतन	अचेतन	अचेतन	अचेतन	अचेतन	अचेतन
२. मूर्तिक-अमूर्तिक दृष्टि से	अमूर्तिक	मूर्तिक	अमूर्तिक	अमूर्तिक	अमूर्तिक	अमूर्तिक
३. अस्तिकाय-अनास्तिकाय की दृष्टि से	अस्तिकाय	अस्तिकाय	अस्तिकाय	अस्तिकाय	अस्तिकाय	अनस्तिकाय

जीव

जैन दर्शन में जीव द्रव्य, जिसे आत्मा भी कहा जाता है, स्वतन्त्र और मौलिक माना गया है। जीव का सामान्य लक्षण उपयोग है **उपयोगो लक्षणम्** क्योंकि यह जीव को छोड़कर अन्य द्रव्यों में नहीं पाया जाता। उपयोग का अर्थ है—चेतना। चेतना जीव का लक्षण है अर्थात् जिसमें चेतना है, वह जीव है, जिसमें चेतना नहीं, वह जीव नहीं। उपयोग दो प्रकार है। प्रथम ज्ञानोपयोग—घटपट आदि बाह्य पदार्थों को जानने की शक्ति ज्ञानोपयोग है। ज्ञानोपयोग में अनेक विकल्प होते हैं, जैसे यह घट है, यह घट नहीं है आदि। दूसरा दर्शनोपयोग—वस्तुओं के सामान्य रूप को जानने की शक्ति दर्शनोपयोग है। ज्ञानोपयोग स्वभावज्ञान तथा विभावज्ञान—दो प्रकार का है। स्वभावज्ञान अर्थात् सम्यग्ज्ञान, इसके मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवल ये पांच प्रकार हैं तथा विभावज्ञान के कुमति, कुश्रुत तथा विभंगावधि ये तीन भेद हैं।[6] इन्द्रिय और मन की सहायता से होने वाला ज्ञान मतिज्ञान है। मतिज्ञान के पश्चात् जो अन्य पदार्थ का ज्ञान होता है, वह

---

१. उमास्वामी : तत्वार्थसूत्र, ५/१-३ तथा ३९
२. 'तत्र द्रव्याणि पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशकालदिगात्ममनांसि नवैव', तर्कसंग्रह, मोतीलाल बनारसीदास, १९७१, पृ० ६
३. तत्वार्थसार, ३/२
४. नेमिचन्द्र : द्रव्यसंग्रह, वर्णी ग्रंथमाला, सन् १९६६ ई०, गाथा १५
५. कुन्दकुन्द, पंचास्तिकाय, गाथा ४
६. वही, गाथा ४१ और तत्वार्थ सूत्र, २/९

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

श्रुतज्ञान है। इन्द्रिय और मन की सहायता के बिना 'रूपी' पदार्थों का जो ज्ञान होता है वह अवधिज्ञान है। इन्द्रिय और मन की सहायता के बिना दूसरे के भावों का जो ज्ञान होता है वह मन:पर्यय ज्ञान है। श्वेताम्बर परम्परानुसार दूसरे को मन की पर्यायों का ज्ञान तथा परम्परया पदार्थों का ज्ञान मन:पर्यय द्वारा होता है। अन्त में त्रिकालवर्ती समस्त पदार्थों का युगपत-ज्ञान केवल-ज्ञान है। मिथ्या-मतिज्ञान कुमति, मिथ्याश्रुत-ज्ञान कुश्रुत, और मिथ्या-अवधिज्ञान विभंगावधि है, दर्शनोपयोग भी स्वभाव और विभाव के भेद से दो प्रकार का है। केवल-दर्शन-स्वभाव दर्शनोपयोग है। केवल-ज्ञान के साथ जो दर्शन होता है वह केवल-दर्शन है। विभाव-दर्शनोपयोग तीन प्रकार का है— चक्षुरिन्द्रिय से जो दर्शन होता है वह चक्षुदर्शन है। चक्षु के अतिरिक्त अन्य इन्द्रिय से होने वाला दर्शन अचक्षुदर्शन है तथा अवधिज्ञान से पूर्व होने वाला दर्शन अवधिदर्शन है।[1] उपयोग के इन भेदों को रेखाचित्र द्वारा निम्न प्रकार से दिखाया जा सकता है—

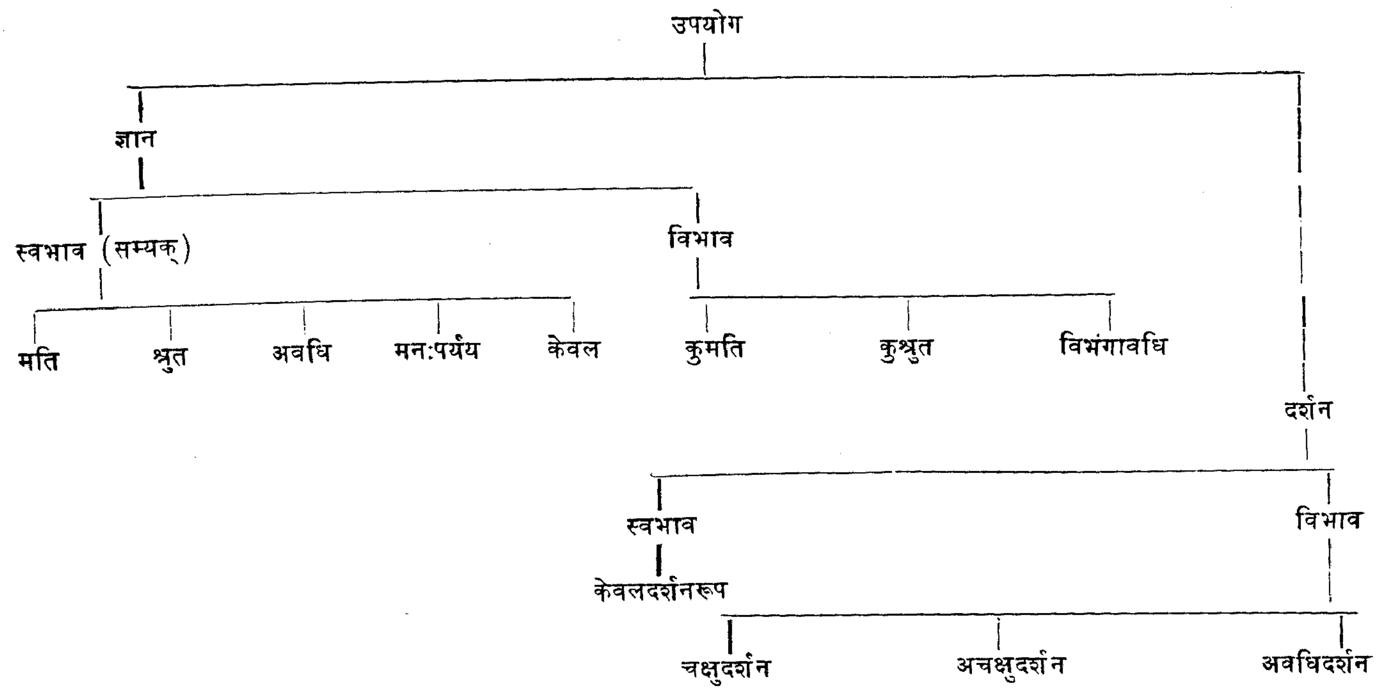

प्रकारान्तर से जीव का स्पष्ट और सुगम लक्षण नेमिचन्द्र कृत द्रव्यसंग्रह में प्राप्त होता है—

जीवो उवओगमओ अमुत्ति कत्ता सदेहपरिणामो।
भोत्ता संसारत्थो सिद्धो सो विस्ससोड्ढगई ॥' गाथा २

अर्थात् जीव उपयोग स्वरूप है, अमूर्तिक है, कर्ता है, स्वदेहपरिणाम है, भोक्ता है, संसारी है, सिद्ध है और स्वभाव से ऊर्ध्वगमन करने वाला है। जीव के उपयोग के सम्बन्ध में ऊपर विस्तृत चर्चा की जा चुकी है। मूर्तिक का अर्थ है—जिसमें रूप, रस, गन्ध और स्पर्श ये चारों पाये जायें। चूंकि जीव में ये नहीं पाये जाते हैं, अतः जीव अमूर्तिक है। ज्ञानावरणादिक कर्मों को करने वाला होने से कर्ता है। प्रदेशों में संकोच और विस्तरणशील होने से स्वदेहपरिणाम है। अर्थात् जीव अपनी देह के अनुसार छोटे-बड़े स्वरूप (परिणाम) वाला है। सांसारिक पुद्गल कर्म सुख-दुःख आदि का भोगने वाला होने से भोक्ता है। अनेक संसारी भेदों वाला होने से या संसार में भ्रमण करने के कारण संसारी है। ज्ञानावरणी, दर्शनावरणी, मोहनीय, वेदनीय, आयु, नाम, गोत्र, अन्तराय--उन आठ कर्मों से रहित होकर ऊर्ध्वगमन करने वाला होने से ऊर्ध्वगामी कर्ता और सिद्ध है। अर्थात् जीव का अन्तिम सोपान मोक्ष है।

ऊपर के विवेचन से स्पष्ट है कि जैन-दर्शन में जीव जहां कर्त्ता है वहां भोक्ता भी है। जैसे अच्छे-बुरे कर्म उसने किये हैं उसका वह वैसा फल अवश्य प्राप्त करेगा। वह अपने संस्कारों की सरणि में बंधा हुआ है। अपने पुरुषार्थ से वह संसार में बंधा भी रह सकता है और मुक्त भी हो सकता है। जीव संसारी भी है और मुक्त-सिद्ध भी है। अर्थात् जो संसारी है वह मुक्त भी हो सकता है। जो सामान्य 'आत्मा है'

१. कुन्दकुन्द : नियमसार, दिगम्बर जैन पुस्तकालय, सूरत, वी. नि. सं. २४६२, गाथा १४

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वह परमात्मा भी बन सकती है। इस प्रकार आत्मा से परमात्मा बनने का अद्भुत कौशल जैन-दर्शन में दर्शाया गया है।

जीवों के भेद

जीव दो प्रकार के हैं—संसारी और मुक्त[1] जिनके कर्म नष्ट हो गये हैं, जो सिद्धशिला पर विराजमग्न हैं, वे मुक्त जीव हैं। वे अपने शुद्ध-बुद्ध चैतन्य रूप में स्थित हैं। सिद्ध-स्वरूप का वर्णन करते हुए कुन्दकुन्द कहते हैं—

णट्ठट्ठकम्मबंधा अट्ठामहागुणसमण्णिया परमा।
लोयग्गठिदा णिच्चा, सिद्धा जे एरिसा होंति॥[2]

जिन्होंने ज्ञानावरणादि आठ कर्मों को नष्ट कर दिया है, जो सम्यक्त्व, ज्ञान, दर्शन, वीर्य, अवगाहनत्व, अगुरुलघुत्व तथा अव्याबाध—इन आठ गुणों[3] से युक्त हैं, परम अर्थात् बड़े हैं, जो लोक के अग्रभाग में स्थित हैं तथा जो नित्य—अविनाशी हैं, वे सिद्ध हैं।

कर्मों के कारण जो संसार की नाना योनियों में भटक रहे हैं वे संसारी जीव हैं। संसारी जीव त्रस और स्थावर के भेद से दो प्रकार के होते हैं। दो इन्द्रियों वाले—स्पर्श तथा रसना से युक्त, तीन इन्द्रियों वाले—स्पर्श, रसना, घ्राण से युक्त, चार इन्द्रियों वाले—स्पर्श, रसना, घ्राण, चक्षु से युक्त तथा पांच इन्द्रियों वाले—स्पर्श, रसना, घ्राण, चक्षु और कर्ण से युक्त। ये ४ प्रकार के त्रस जीव हैं। उदाहरणार्थ **क्रमशः** कृमि, पिपीलिका, (चींटी) भ्रमर, मनुष्य को ले सकते हैं[4] पंचेन्द्रिय जीव संज्ञी तथा असंज्ञी के भेद से दो प्रकार के हैं। जो मन सहित हैं वे संज्ञी[5] तथा जो मन रहित हैं वे असंज्ञी हैं। देव, नारकी, मनुष्य आदि संज्ञी तथा कुछ पशु असंज्ञी हैं। जिनकी केवल एक स्पर्शनेन्द्रिय होती है वे स्थावर हैं। ये भी पृथ्वीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक तथा वनस्पतिकायिक के भेद से पांच प्रकार के हैं। जीवों के उपर्युक्त भेद एक रेखाचित्र द्वारा निम्न प्रकार दिखाये जा सकते हैं—

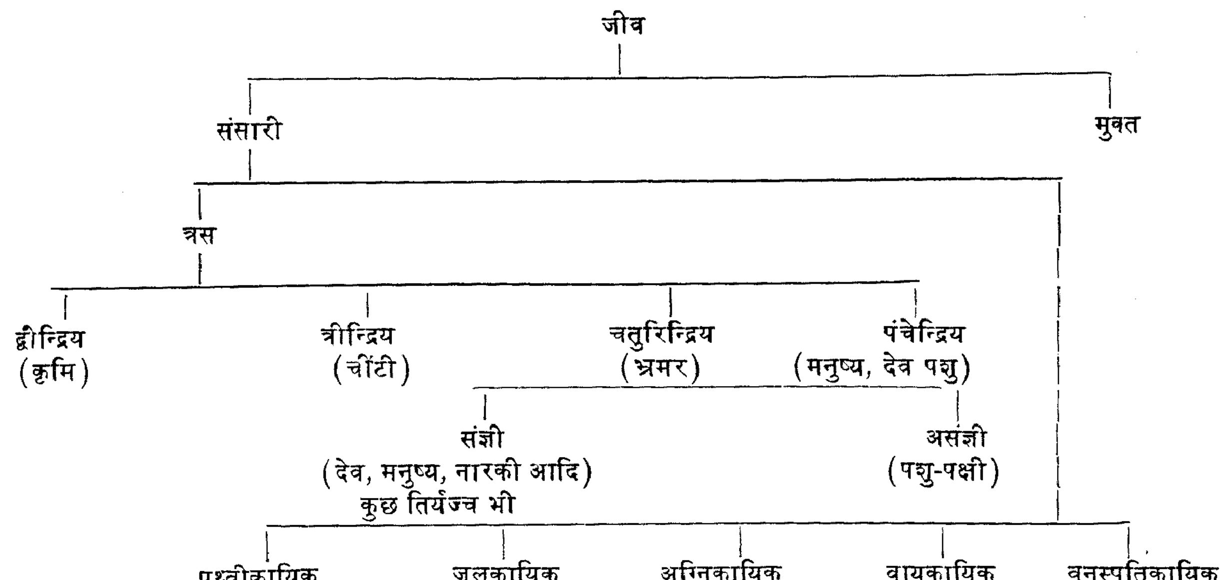

जीवों के कार्य के सम्बन्ध में भी जैन-दर्शन विवेचना करता है। आचार्य उमास्वामी कहते हैं—**परस्परोग्रहो जीवानाम्**[6] परस्पर में सहायक होना जीवों का उपकार है। संसार की व्यवस्था एक दूसरे की सहायता के बिना नहीं चल सकती। परस्पर में उपकार करना जीवों का कार्य

१. 'संसारिणो मुक्ताश्च', तत्वार्थ सूत्र, २/१०
२. कुन्दकुन्द : नियमसार, सूरत, वी. नि. सं. २४६२, गाथा ७२
३. 'सम्यग्दर्शन ज्ञान, अगुरूलघु अवगाहना।
सूक्ष्म वीरजवान, निराबाधगुण सिद्धके॥', चौथा भाग
४. 'कृमिपिपीलिकाभ्रमरमनुष्यादीनामेकैकवृद्धानि', तत्वार्थसूत्र, २/२२
५. 'संज्ञिनः समनस्काः,' वही, २/२४
६. तत्वार्थसूत्र, ५/२२

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है। पति सुख-सुविधा की व्यवस्था कर और अपने जीवन की सच्ची संगिनी बनाकर पत्नी का उपकार करता है और पत्नी अनुकूल प्रवर्तन द्वारा पति का उपकार करती है।[1]

जीव संख्या में अनन्त, असंख्यात प्रदेशों वाले तथा समस्त लोकाकाश में व्याप्त हैं। जीव अपने वास्तविक रूप में स्वयम्भू, सर्वज्ञ, ज्ञायक, सर्वगत है, किन्तु कर्मों के संयोग से भव-भ्रमण करता है। ज्यों ही कर्मों का संयोग छूट जाता है, त्यों ही जीव का भव-भ्रमण समाप्त हो जाता है, और वह अपने वास्तविक रूप में आकर अनन्त-दर्शन, अनन्त-ज्ञान, अनन्त-सुख और अनन्त-वीर्य का अधिकारी होकर सिद्धावस्था को प्राप्त हो जाता है।

पुद्गल

जैन-दर्शन में पुद्गल द्रव्य मूर्तिक स्वीकार किया गया है। पुद्गल की व्युत्पत्ति बताते हुए बताया गया—**पूरयन्ति गलन्तीति पुद्गलाः**[2] अर्थात् जो द्रव्य (स्कन्ध अवस्था में) अन्य परमाणुओं से मिलता (/पृ० + णिच्) है और गलन (/गल्) = पृथक्-पृथक् होता है, उसे पुद्गल कहते हैं। आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं—

वण्णरसगंधफासा विज्जंते पोग्गलस्स सुहुमादो।
पुढवीपरियंतस्स य सद्दो सो पोग्गलो चित्तो॥[3]

अर्थात् पुद्गल द्रव्य में ५ रूप, ५ रस, २ गन्ध, और ८ स्पर्श ये चार प्रकार के गुण होते हैं तथा शब्द भी पुद्गल का पर्याय है। ५ रूप हैं नीला, पीला, सफेद, काला, लाल। ५ रस हैं—तीखा, कटुक, आम्ल, मधुर और कसैला। दो गन्ध हैं—सुगन्ध तथा दुर्गन्ध और ८ स्पर्श हैं—कोमल, कठोर, गुरु, लघु, शीत, उष्ण, स्निग्ध तथा रूक्ष। इनमें से प्रत्येक के संख्यात, असंख्यात और अनन्त भेद कहे गये हैं। एक रेखाचित्र द्वारा इन्हें इस प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है—

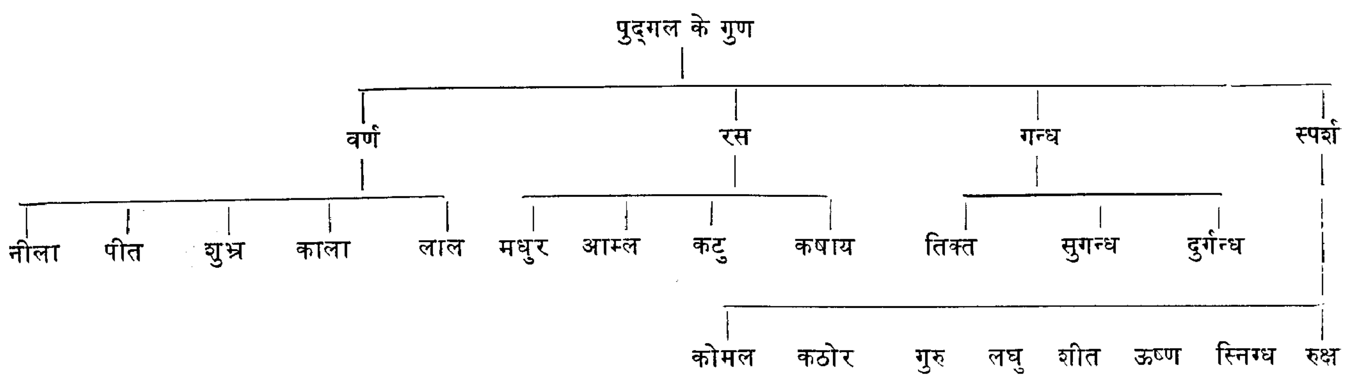

संख्यात, असंख्यात, अनन्त बीसों उपभेदों के ये तीन-तीन भेद होते हैं।

पुद्गल के भेद—पुद्गल दो प्रकार का है—एक अणुरूप, दूसरा स्कन्धरूप।[4] आगे स्कन्ध के तीन रूप होकर पुद्गल के चार भेद भी स्वीकार किये गये हैं—(१) स्कन्ध (२) स्कन्ध देश (३) स्कन्ध प्रदेश (४) परमाणु। अनन्तानन्त परमाणुओं का पिण्ड स्कन्ध कहलाता है, उस स्कन्ध का अर्धभाग स्कन्ध देश और उसका भी अर्धभाग अर्थात् स्कन्ध का चौथाई भाग स्कन्ध प्रदेश कहा जाता है तथा जिसका दूसरा भाग नहीं होता उसे परमाणु कहते हैं।[5]

स्कन्ध दो प्रकार के हैं—बादर तथा सूक्ष्म। बादर स्थूल का पर्यायवाची है। स्थूल अर्थात् जो नेत्रेन्द्रिय-ग्राह्य हो और सूक्ष्म अर्थात् जो इन्द्रिय-ग्राह्य न हो। इन दोनों को मिलाकर स्कन्ध के छः वर्ग स्वीकार किये गये हैं—

---

१. वही, पं० फूलचन्द सिद्धान्तशास्त्री कृत व्याख्या, पाठ २२४
२. माध्वाचार्य : सर्वदर्शनसंग्रह, चौखम्भा विद्या भवन, १९६४, पृ० १५३
३. कुन्दकुन्द : प्रवचनसार, श्रीमद् राजचन्द्र-आश्रम, अगास, वि. सं. २०२१, गाथा २/४०; 'स्पर्शरसगन्धवर्णवन्तः पुद्गलाः' तत्वार्थ सूत्र, ५/२३
४. 'अणवः स्कन्धाश्च', तत्वार्थ सूत्र, ५/२५
५. पञ्चास्तिकाय, गाथा ७५

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(१) **बादर-बादर (स्थूल-स्थूल)**—जो स्कन्ध छिन्न-भिन्न होने पर स्वयं न मिल सकें, ऐसे ठोस पदार्थ, यथा-लकड़ी, पत्थर आदि।

(२) **बादर (स्थूल)**—जो छिन्न-भिन्न होकर फिर आपस में मिल जायें ऐसे द्रव पदार्थ, यथा-घी, दूध, जल, तेल आदि।

(३) **बादर-सूक्ष्म (स्थूल-सूक्ष्म)**—जो दिखने में तो स्थूल हों अर्थात् केवल नेत्रेन्द्रिय से ग्राह्य हों किन्तु पकड़ में न आवें, जैसे—छाया, प्रकाश, अन्धकार आदि।

(४) **सूक्ष्म-बादर (सूक्ष्म-स्थूल)**—जो दिखाई न दें अर्थात् नेत्रेन्द्रिय-ग्राह्य न हों, किन्तु अन्य इन्द्रियों स्पर्श, रसना, घ्राणादि से ग्राह्य हों, जैसे—ताप, ध्वनि, रस, गन्ध, स्पर्श आदि।

(५) **सूक्ष्म**—स्कन्ध होने पर भी जो सूक्ष्म होने के कारण इन्द्रियों द्वारा ग्रहण न किये जा सकें, जैसे—कर्म, वर्गणा आदि।

(६) **अतिसूक्ष्म**—कर्म वर्गणा से भी छोटे द्व्यणुक (दो अणुओं=दो परमाणुओं वाले) आदि।

परमाणु सूक्ष्मातिसूक्ष्म है, अविभागी है, शाश्वत शब्दरहित तथा एक है। परमाणु का आदि, मध्य और अन्त वह स्वयं ही है। आचार्य कुन्दकुन्द लिखते हैं—

अंतादि अंतमज्झं, अतंतं णेव इन्दिए गेज्झं।
अविभागो जं दव्वं परमाणु तं विआणाहि॥[1]

अर्थात् जिसका स्वयं स्वरूप ही आदि, मध्य और अन्त रूप है, जो इन्द्रियों के द्वारा ग्रहण योग्य नहीं है, ऐसा अविभागी—जिसका दूसरा भाग न हो सके द्रव्य परमाणु है। यहां यह द्रष्टव्य है कि परमाणु का यही रूप आधुनिक विज्ञान भी मानता है। इस सम्बन्ध में श्री उत्तमचन्द जैन का निम्न कथन द्रष्टव्य है—"परमाणु किसी भी इन्द्रिय या अणुवीक्षण यन्त्रादि से भी ग्राह्य (दृष्टिगोचर) नहीं होता है। इसे जैनदर्शन में केवल पूर्णज्ञानी (सर्वज्ञ) के ज्ञानगोचरमात्र माना गया है। इस तथ्य की पुष्टि एवं निश्चित घोषणा करते हुए 'प्रोफेसर जान, पिल्ले विश्वविद्यालय, ब्रिस्टल' लिखते हैं—"

We can not see atoms either and never shall be able to···Even if they were a million times bigger it would still be impossible to see them even with the most powerful microscope that has been made (An Outline for Boys, Girls and their Parents (collaucery) Section Chemistry, p. 261)

इससे स्पष्ट है कि 'अणु' के विषय में दो हजार वर्ष पूर्व कुन्दकुन्दाचार्य द्वारा लिखे गए नियमसार में **णेव इन्दिए गेज्झं** अर्थात् इन्द्रिय ग्राह्य (परमाणु) है ही नहीं यह लक्षण कितना वैज्ञानिक एवं खरा है।[2] रूप, रस, गन्ध, स्पर्श उसमें पाये जाते हैं अतः मूर्त है। ऐसी अवस्था में कहने का भाव यह है कि—परमाणु में दो स्पर्श, शीत और ऊष्ण में से एक तथा स्निग्ध और रुक्ष में से एक होते हैं। ५ वर्णों में से एक कोई, रसों में से एक तथा गन्ध में से एक (क्योंकि ये तीनों सदैव परिवर्तित होते रहते हैं) गुण होता है। यह एक प्रदेशी है।[3] पुद्गलों की परमाणु अवस्था स्वाभाविक पर्याय है तथा स्कन्धादि अवस्था विभाव पर्याय है।

परमाणु नित्य है, वह सावकाश भी है और निरवकाश भी।[4] सावकाश इस अर्थ में है कि वह स्पर्शादि चार गुणों को अवकाश देने में समर्थ है तथा निरवकाश इस अर्थ में है कि—उसके एक प्रदेश में दूसरे प्रदेश का समावेश नहीं होता। परमाणु—पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु आदि का कारण है (अर्थात् पृथ्वी आदि के परमाणु मूलतः भिन्न-भिन्न नहीं हैं) वह परिणमनशील है, वह किसी का कार्य नहीं अतः वह अनादि है। यद्यपि उपचार से उसे कार्य कहा जाता है।

परमाणु की उत्पत्ति

परमाणु शाश्वत है अतः उसकी उत्पत्ति उपचार से है। परमाणु कार्य भी है और कारण भी। जब उसे कार्य कहा जाता है तब

---

१. कुन्दकुन्द : नियमसार, गाथा २६

२. श्री उत्तमचन्द जैन : 'जैन दर्शन और संस्कृति' नामक पुस्तक में संकलित निबन्ध 'जैन दर्शन का तात्विक पक्ष परमाणुवाद', इन्दौर विश्वविद्यालय प्रकाशन, अक्टूबर १९७६

३. 'नाणोः' (अणु के प्रदेश नहीं होते), तत्वार्थ सूत्र, ५/११; पंचास्तिकाय, गाथा ८१
प्रदेश—'जावदियं आयासं अविभागी पुग्गलाणु उट्ठद्धं।
तं खु पदेसं जाणे सब्बाणुट्ठाणदाणरिहं॥', द्रव्य संग्रह, २७
अर्थात् आकाश के जितने स्थान को अविभागी परमाणु रोकता है, वह एक प्रदेश है।

४. कुन्दकुन्द ; पंचास्तिकाय, गाथा ८०

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उपचार से ही कहा जाता है; क्योंकि परमाणु सत्-स्वरूप है, ध्रौव्य है, अतः उसकी उत्पत्ति का प्रश्न ही नहीं उठता। परमाणु पुद्गल की स्वाभाविक दशा है। दो या अधिक परमाणु मिलने से स्कन्ध बनते हैं, अतः परमाणु स्कन्धों का कारण है। उपचार से कार्य भी इस प्रकार है कि लोक में स्कन्धों के भेद से परमाणु की उत्पत्ति देखी जाती है। इसी कारण आचार्य उमास्वामी ने कहा है—**भेदादणुः**[1] अर्थात् अणु भेद से उत्पन्न होता है, किन्तु यह भेद की प्रक्रिया तब तक चलनी चाहिए जब तक स्कन्ध द्वयणुक न हो जाए।

स्कन्धों की उत्पत्ति

स्कन्धों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में उमास्वामी ने तीन कारण दिए हैं—१. भेद से, २. संघात से और ३. भेद-संघात (दोनों) से।[2]

१. **भेद से**—जब किसी बड़े स्कन्ध के टूटने से छोटे-छोटे दो या अधिक स्कन्ध उत्पन्न होते हैं; तो वे भेदजन्य स्कन्ध कहलाते हैं। जैसे, एक ईंट को तोड़ने से उसमें से दो या अधिक टुकड़े होते हैं। ऐसी स्थिति में वे टुकड़े स्कन्ध हैं तथा बड़े स्कन्ध टूटने से हुए हैं, अतः भेद-जन्य हैं। ऐसे स्कन्ध द्वयणुक से अनन्ताणुक तक हो सकते हैं।

२. **संघात से**—संघात का अर्थ है जुड़ना। जब दो परमाणुओं अथवा स्कन्धों के जुड़ने से स्कन्ध की उत्पत्ति होती है तो वह संघात-जन्य उत्पत्ति कही जाती है। यह तीन प्रकार से सम्भव है—(अ) परमाणु+परमाणु (आ) परमाणु+स्कन्ध (इ) स्कन्ध+स्कन्ध। ये भी द्वयणुक से अनन्ताणुक तक हो सकते हैं।

३. **भेद संघात (दोनों) से**—जब किसी स्कन्ध के टूटने के साथ ही उसी समय कोई स्कन्ध या परमाणु उस टूटे हुए स्कन्ध से मिल जाता है तो वह स्कन्ध 'भेद तथा संघातजन्य-स्कंध' कहलाता है, जैसे टायर के छिद्र से निकलती हुई वायु उसी क्षण बाहर की वायु से मिल जाती है। यहां एक ही काल में भेद तथा संघात दोनों हैं। बाहर से निकलने वाली वायु का टायर के भीतर की वायु से भेद है तथा बाहर की वायु से संघात। ये भी द्वयणुक से अनन्ताणुक तक हो सकते हैं।

पुद्गल की पर्यायें

शब्दबन्धसौक्ष्म्यस्थौल्यसंस्थानभेदतमश्छायातपोद्योतवन्तश्च[3] अर्थात् वे पुद्गल शब्द, बन्ध, सूक्ष्मत्व, स्थूल्य, संस्थान, भेद, अंधकार, छाया, आतप और उद्योत वाले होते हैं।

शब्द—शब्द को अन्यान्य दर्शनों, यथा वैशेषिक आदि ने आकाश का गुण माना है[4] किन्तु जैनदर्शन में इसे पुद्गल की ही पर्याय स्वीकार किया गया है। आज के विज्ञान ने भी शब्द को पकड़कर ध्वनि-यन्त्रों, रेडियो, ग्रामोफोन आदि से एक स्थान से दूसरे स्थान पर भेजकर जैनमान्यता का ही समर्थन किया है। पुद्गल के अणु तथा स्कन्ध भेदों की जो २३ अवांतर जातियां स्वीकार की गयी हैं उनमें एक जाति भाषा वर्गणा भी है। ये भाषा वर्गणाएं लोक में सर्वत्र व्याप्त हैं। जिस वस्तु से ध्वनि निकलती है, उस वस्तु में कम्पन होने के कारण इन पुद्गल वर्गणाओं में भी कम्पन्न होता है, जिससे तरंगें निकलती हैं। ये तरंगें ही उत्तरोत्तर पुद्गल की भाषा वर्गणाओं में कम्पन पैदा करती हैं, जिससे शब्द एक स्थान से उद्भूत होकर दूसरे स्थान पर पहुंच जाता है।[5] विज्ञान भी शब्द का वहन इसी प्रकार की प्रक्रिया द्वारा मानता है।

शब्द भाषात्मक और अभाषात्मक के भेद से दो प्रकार का है। भाषात्मक शब्द पुनः अक्षरात्मक और अनक्षरात्मक के भेद से दो प्रकार का हो जाता है। संस्कृत, अंग्रेजी, हिन्दी आदि भाषाओं के जो शब्द हैं, वे अक्षरात्मक शब्द हैं तथा गाय आदि पशुओं के शब्द-संकेत अनक्षरात्मक शब्द हैं। अभाषात्मक शब्द भी प्रायोगिक और वैस्रसिक के भेद से दो प्रकार का है। मेघ आदि की गर्जना वैस्रसिक शब्द है। प्रायोगिक चार प्रकार का है। (क) तत—मृदंग, ढोल आदि का शब्द, (ख) वितत—वीणा, सारंगी आदि वाद्यों का शब्द, (ग) घन—झालर, घण्टा आदि का शब्द, (घ) सौषिर या सुषिर—शंख, बांसुरी आदि का शब्द। ये भेद एक रेखाचित्र द्वारा निम्न प्रकार से देखे जा सकते हैं।

---

१. तत्वार्थ सूत्र, ५/२७
२. 'भेदसंघातेभ्यः उत्पद्यन्ते', तत्वार्थसूत्र, ५/६२
३. तत्वार्थसूत्र, ५/२४
४. 'शब्दगुणकमाकाशम्', तर्कसंग्रह, पृ० ४३
५. तत्वार्थसूत्र (पं० फूलचन्द सिद्धान्तशास्त्री कृत व्याख्या), पृ० २३०

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

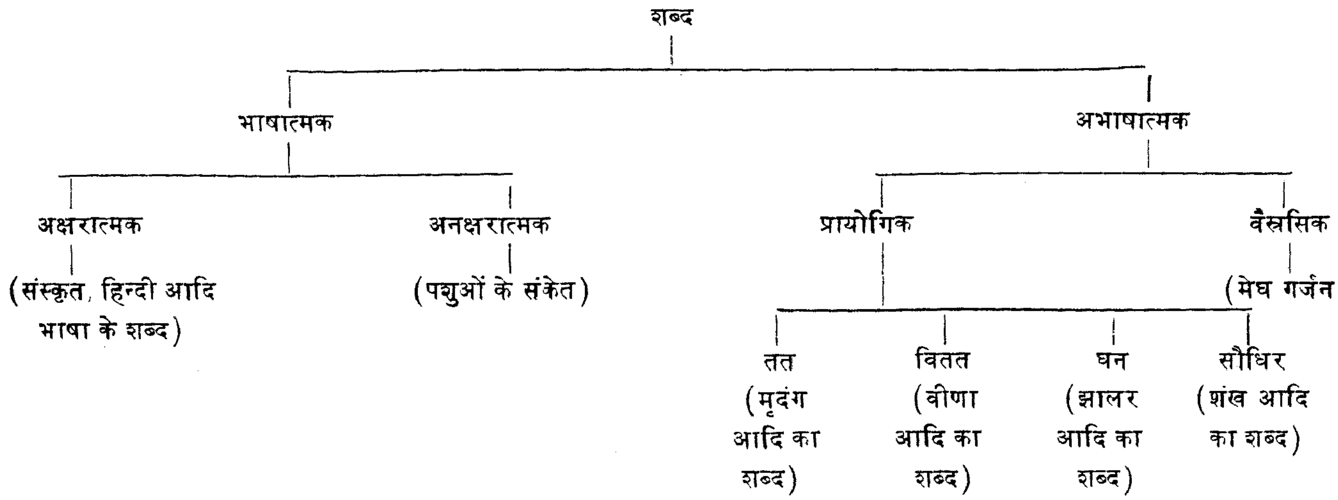

बन्ध

परस्पर में श्लेष बन्ध कहलाता है बन्ध का ही पर्यायवाची शब्द है संयोग, किन्तु संयोग में केवल अन्तर रहित अवस्थान होता है जबकि बन्ध में एकत्व होना, एकाकार हो जाना आवश्यक है। प्रायोगिक और वैस्रसिक के भेद से बन्ध दो प्रकार का है। प्रायोगिक भी अजीव प्रायोगिक तथा जीवाजीव प्रायोगिक के भेद से दो प्रकार का है। लाख और लकड़ी आदि का बन्ध अजीव प्रायोगिक बन्ध है तथा कर्म और नोकर्म का बन्ध जीवाजीव प्रायोगिक बन्ध है।[1] वैस्रसिक भी सादि और अनादि के भेद से दो प्रकार का है। धर्मास्तिकाय आदि द्रव्यों का बन्ध तो अनादि है और पुद्गलों का बन्ध सादि है। जो द्वयणुक आदि स्कन्ध बनते हैं वह सादि बन्ध हैं। परमाणुओं में परस्पर में बन्ध क्यों और कैसे होता है इस समस्या पर दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों दार्शनिकों ने प्रर्याप्त प्रकाश डाला है। यह बात दोनों को ही मान्य है कि स्निग्धत्व और रूक्षत्व से कारण बन्ध होता है—**स्निग्धरूक्षत्वाद् बन्ध**[2] यह ऊपर कहा जा चुका है कि परमाणु में दो स्पर्श-शीत और ऊष्ण में से एक, तथा स्निग्ध और रूक्ष में से एक पाये जाते हैं। इनमें से स्निग्ध और रूक्ष के कारण इनमें बन्ध होता है और स्कन्धों की उत्पत्ति होती है। स्निग्धत्व का अर्थ है चिकनापन और रूक्षत्व का अर्थ है रूखापन। वैज्ञानिक परिभाषा में ये पाजिटिव और निगेटिव है।[3] इस प्रकार यह बन्ध तीन रूपों में होता है (१) स्निग्ध+स्निग्ध परमाणुओं का (२) रूक्ष+रूक्ष परमाणुओं का तथा (३) स्निग्ध+रूक्ष परमाणुओं का।

दिगम्बर परम्परा में **द्वयधिकादिगुणानांतु**[4] सूत्र के अनुसार दो गुण अधिक वाले परमाणुओं का बन्ध होता है। गुण का अर्थ हैं शक्त्यंश (शक्ति का अंश) बन्ध होने के लिए यह आवश्यक है कि जिन दो परमाणुओं में बन्ध हो रहा है उनमें दो शक्त्यंशों का अन्तर होना चाहिए। जैसे कोई परमाणु दो स्निग्ध शक्त्यंश वाला है तो दूसरा परमाणु जिसके साथ बन्ध होना है—उसे ४ शक्त्यंश (स्निग्ध या रूक्ष) वाला होना चाहिए। इसी प्रकार ३ शक्त्यंश वाले के लिए ५ शक्त्यंश तथा ८ शक्त्यंश वाले के लिए १० शक्त्यंश वाला होना

१. तत्वार्थसार, ३/६७
२. तत्वार्थ सूत्र, ५/३३
३. प्रो॰ जी॰ आर॰ जैन के अनुसार स्निग्धत्व और रूक्षत्व वैज्ञानिक परिभाषा में निगेटिव और पाजिटिव हैं, वे लिखते हैं—'तत्वार्थसूत्र के पंचम अध्याय के सूत्र नं॰ ३३ में कहा गया है—'स्निग्धरूक्षत्वाद्बन्धः' अर्थात् स्निग्धत्व और रूक्षत्व गुणों के कारण एटम एक सूत्र में बंधा रहता है। पूज्यपाद स्वामी ने सर्वार्थसिद्धि टीका में एक स्थान पर लिखा है—'स्निग्धरूक्षगुणनिमित्तो विद्युत्' अर्थात् बादलों में स्निग्ध और रूक्ष गुणों के कारण विद्युत् की उत्पत्ति होती है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि स्निग्ध का अर्थ चिकना और रूक्ष का अर्थ खुरदुरा नहीं है। ये दोनों शब्द वास्तव में विशेष टेक्निकल अर्थों में प्रयोग किये गये हैं। जिस तरह एक अनपढ़ मोटर ड्राइवर बैटरी के एक तार को ठण्डा और दूसरे तार को गरम कहता है (यद्यपि उनमें से कोई तार न ठण्डा होता है न गरम) और जिन्हें विज्ञान की भाषा में पाजिटिव व निगेटिव कहते हैं, ठीक उसी तरह जैन धर्म में स्निग्ध और रूक्ष शब्दों का प्रयोग किया गया है। डा॰ बी॰ एन॰ सील ने अपनी कैम्ब्रिज से प्रकाशित पुस्तक 'पाजिटिव साइन्सिज आफ एनशियन्ट हिन्दूज' में स्पष्ट लिखा है—'जैनाचार्यों को यह बात मालूम थी कि भिन्न-भिन्न वस्तुओं को आपस में रगड़ने से पाजिटिव और निगेटिव बिजली उत्पन्न की जा सकती है। इन सब बातों के समक्ष इसमें कोई सन्देह नहीं रह जाता कि स्निग्ध का अर्थ पाजिटिव और रूक्ष का अर्थ निगेटिव विद्युत् है।', द्रष्टव्य 'तीर्थंकर महावीर स्मृति ग्रन्थ', जीवाजी विश्वविद्यालय, ग्वालियर प्रकाशन, पृ॰ २७५-७६
४. तत्वार्थसूत्र, ५/३६

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आवश्यक है। भाव यह है कि बन्ध में सर्वत्र २ शक्त्यंशों (गुणों) का अन्तर होना चाहिए, न इससे कम और न इससे अधिक।

श्वेताम्बर परम्परा इसे नहीं मानती। उसके अनुसार सदृश परमाणुओं में तीन-चार आदि अंश अधिक होने पर भी बन्ध हो जाता है।

उपर्युक्त कथन से यह स्पष्ट है कि समान शक्त्यंश होने पर सदृश परमाणुओं का बन्ध नहीं होगा। उमास्वामी का **गुणसाम्ये सदृशानाम्**[1] सूत्र भी यही कहता है।

बन्ध न होने की दूसरी स्थिति है **न जघन्यगुणानाम्**[2] अर्थात् जघन्यगुण वाले परमाणुओं का बन्ध नहीं होता है। गुण का अर्थ है शक्त्यंश। शक्ति के अंशों में सदैव हानि वृद्धि का क्रम चलता रहता है। ऐसा होते होते जब शक्ति का एक ही अंश बाकी रह जाता है तो ऐसे परमाणु को जघन्यगुण वाला परमाणु कहते हैं। दिगम्बर परम्परा के अनुसार जघन्यगुण वाले परमाणु अर्थात् एक शक्त्यंश वाले परमाणु का अजघन्य गुण वाले परमाणु अर्थात् तीनादि शक्त्यंश वाले परमाणु का बन्ध नहीं होता सामान्यतः **द्व्यधिकादिगुणानां तु** सूत्र के अनुसार १+३ शक्त्यंश वाले परमाणुओं का दो गुणों का अन्तर होने से बन्ध होना चाहिए था, परन्तु **न जघन्यगुणानाम्** सूत्र के अनुसार १+३ गुणों वाले परमाणुओं में बन्ध नहीं होगा। असदृश+असदृश में भी यही नियम लागू होगा।

श्वेताम्बर परम्परा ऐसा नहीं मानती उसके अनुसार जघन्य अंश वाले परमाणु का अजघन्य अंश वाले परमाणु के साथ बन्ध होता है।

उपर्युक्त बन्ध प्रक्रिया को एक सारिणी[3] द्वारा निम्न प्रकार दर्शाया जा सकता है—

अंश	श्वेताम्बर सदृश	परम्परानुसार विसदृश	दिगम्बर सदृश	परम्परानुसार विसदृश
१. जघन्य जघन्य	नहीं	नहीं	नहीं	नहीं
२. जघन्य एकाधिक	नहीं	है	नहीं	नहीं
३. जघन्य द्व्यधिक	है	है	नहीं	नहीं
४. जघन्य त्र्यादि अधिक	है	है	नहीं	नहीं
५. जघन्येतर सम जघन्येतर	नहीं	नहीं	नहीं	नहीं
६. जघन्येतर एकाधिक जघन्येतर	नहीं	है	नहीं	नहीं
७. जघन्येतर द्व्यधिक जघन्येतर	है	है	है	है
८. जघन्येतर त्र्यादि अधिक जघन्येतर	है	है	नहीं	नहीं

बन्ध हो जाने के पश्चात् अधिक अंश वाले परमाणु हीन अंश वाले परमाणुओं को अपने में परिणाम लेता है। तीन अंश वाले परमाणु को पांच अंश वाला परमाणु अपने में मिला लेता है अर्थात् तीन अंश वाला परमाणु पांच अंश वाला हो जाता है—**बन्धे अधिकौ परिणामिकौ च।**[4]

सूक्ष्मत्व—सूक्ष्म भी अन्त्य और आपेक्षिक के भेद से दो प्रकार का है। अन्त्य सूक्ष्मत्व परमाणुओं में तथा आपेक्षिक सूक्ष्मत्व बेल, आंवला आदि में होता है।[5]

स्थौल्य—यह भी अन्त्य और आपेक्षिक के भेद से दो प्रकार का है। अन्त्य स्थौल्य लोक रूप महा-स्कन्ध में होता है तथा आपेक्षिक स्थौल्य बेर, आंवला आदि में होता है।[6]

संस्थान—संस्थान का अर्थ है आकृति। यह इत्थंलक्षण और अनित्थंलक्षण भेद रूप दो प्रकार की है। कलश आदि का आकार गोल, चतुष्कोण, त्रिकोण आदि रूपों में कहा जा सकता है, वह इत्थंलक्षण है। तथा जो आकृति शब्दों से नहीं कही जा सकती वह अनित्य

१. तत्वार्थसूत्र, ५/३५
२. वही, ५/३४
३. मुनि नथमल : जैन दर्शन : मनन और मीमांसा, आदर्श साहित्य संघ प्रकाशन, चुरू, १९७७ की सारिणी से साभार
४. तत्वार्थसूत्र, ५/३७
५. तत्वार्थसार, ३/६५
६. वही, ३/६६

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

लक्षण है, जैसे—मेघ आदि की आकृति।[1]

भेद—एक पुद्गल पिण्ड का भंग होना भेद कहलाता है। यह उत्कर, चूर्णिका, चूर्ण, खण्ड, अणुचटन और प्रतर रूप छह प्रकार का है।[2] लकड़ी या पत्थर आदि का आरी से भेद उत्कर है। उड़द, मूंग आदि की चुनी चूर्णिका है। गेहूं आदि का आटा चूर्ण है। घट आदि के टुकड़े खण्ड हैं। गर्म लोहे पर घन-प्रहार से जो स्फुलिंग (कण) निकलते हैं, वे अणुचटन हैं तथा मेघ, मिट्टी, अभ्रक आदि का बिखरना प्रतर है।

अन्धकार—अन्धकार भी पौद्गलिक स्वीकार किया गया है। नेत्रों को रोकने वाला तथा प्रकाश का विरोधी तम—अन्धकार है।

छाया—शरीर आदि के निमित्त जो प्रकाश आदि का रुकना है, वह छाया है। यह भी पौद्गलिक है। छाया दो प्रकार की है—एक छाया वह जिसमें वर्ण आदि अविकार रूप में परिणमते हैं, यथा—पदार्थ जिस रूप और आकार वाला होता है दर्पण में उसी रूप और आकार वाला दिखाई देता है। आधुनिक चलचित्र इसी के अन्तर्गत आएगा। दूसरी छाया वह है, जिसमें प्रतिबिम्ब मात्र पड़ता है, जैसे धूप या चांदनी में मनुय की आकृति है।[3]

आतप और उद्योत—सूर्य आदि का ऊष्ण प्रकाश आतप कहलाता है तथा चन्द्रमा-जुगनू आदि का ठण्डा प्रकाश उद्योत कहलाता है। जैन-दर्शन में वे भी पौद्गलिक स्वीकार किये गए हैं।[4]

इस प्रकार जैन-दर्शन में पुद्गल तथा परमाणु के सम्बन्ध में विस्तृत विवेचना उपलब्ध होती है। आज के राकेट आदि की गति वस्तुतः परमाणु की गति से कम है। अतः परमाणु को उत्कृष्ट गति एक समय में १४ राजू बताई गयी है। (मन्द गति से एक पुद्गल परमाणु को लोकाकाश के एक प्रदेश पर से दूसरे प्रदेश पर जाने में जितना काल लगता है उसे एक समय कहते हैं।) 'एक समय' भी काल की सबसे छोटी इकाई है। वर्तमान एक सेकण्ड में जैन पारिभाषिक असंख्यात समय होते हैं। राज सबसे बड़ा प्रतीकात्मक माप है—एक राज में असंख्यात किलोमीटर समा जायेंगे।[5] इसी कारण विश्वविख्यात दार्शनिक विद्वान् डा० राधाकृष्णन् ने लिखा है—"अणुओं के श्रेणी-विभाजन से निर्मित वर्गों की नानाविध आकृतियां होती हैं। कहा गया है कि अणु के अन्दर ऐसी गति का विकास भी सम्भव है जो अत्यन्त वेगवान् हो, यहां तक कि एक क्षण के अन्दर समस्त विश्व को एक छोर से दूसरे छोर तक परिक्रमा पर आए।'[6]

धर्म—यहां धर्म-अधर्म के पुण्य पाप गृहीत नहीं हैं। अपितु ये दोनों जैन दर्शन के पारिभाषिक शब्द हैं। धर्म का अर्थ है 'गति में सहायक द्रव्य'। दार्शनिक जगत् में जैन दर्शन के सिवाय किसी ने भी धर्म और अधर्म की स्थिति नहीं मानी है। वैज्ञानिकों में सबसे पहले न्यूटन ने गति तत्व (Medium of motion) को स्वीकार किया है। प्रसिद्ध गणितज्ञ अलबर्ट आईन्स्टीन ने भी गति तत्व की स्थापना करते हुए कहा है—'लोक परिमित है, लोक के परे अलोक अपरिमित है, लोक के परिमित होने का कारण यह है कि द्रव्य अथवा शक्ति लोक के बाहर नहीं जा सकती। लोक के बाहर उस शक्ति का द्रव्य का अभाव है जो गति में सहायक होता है। वैज्ञानिकों द्वारा सम्मत ईथर (Ether) गति तत्व का ही दूसरा नाम है।[7] और यही जैन दर्शन का धर्मद्रव्य है। धर्मद्रव्य अमूर्तिक स्वीकार किया गया है। यह रूप, रस, गन्ध और स्पर्श से रहित है। संसार के निर्माण के लिए पदार्थों की गति और स्थिरता के किन्हीं नियमों में बद्ध होना आवश्यक है। धर्म गति का और अधर्म स्थिरता का सूचक है। यदि धर्म न हो तो पदार्थ चल ही नहीं सकेंगे और यदि अधर्म न हो तो पदार्थ सदा-सदा चलते ही रहेंगे। धर्मद्रव्य क्रिया रूप परिणमन करने वाले क्रियावान् जीव और पुद्गलों को गति में सहायक होते हैं। यहां यह ध्यातव्य है कि धर्मद्रव्य स्वयं निष्क्रिय है, वह स्वयं न तो चलता है और न दूसरों को चलने के लिए प्रेरित करता है, अपितु वह उनकी गति में सहायक अवश्य है। जिस प्रकार जल न तो स्वयं चलता है और न ही मछली आदि को चलने के लिए प्रेरित करता है, किन्तु मछली के चलने में सहायक होता है। वैसे ही धर्मद्रव्य भी जीव और पुद्गलों के चलने के सहायक होता है। जैसे पानी के बिना मछली का चलना सम्भव नहीं वैसे ही धर्म के बिना जीव और पुद्गलों की गति असम्भव है। आचार्य अमृतचंद्र ने बड़े ही सुन्दर शब्दों में लिखा है :

---

१. तत्वार्थसार, ३/६४
२. वही, ३/७२
३. वही, ३/६९-७०
४. वही, ३/७१
५. श्री उत्तमचन्द जैन : जैन दर्शन का तात्विक पक्ष परमाणुवाद (जैन दर्शन और संस्कृति, पृ० ३६-३७) निबन्ध से
६. डा० राधाकृष्णन् : भारतीय दर्शन, प्रथम भाग, राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली, १९७३, पृ० २९२
७. द्रष्टव्य, जैन दर्शन : मनन और मीमांसा, पृ० १८८

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

क्रियापरिणतानां यः स्वयमेव क्रियावताम् ।
आदधाति सहायत्वं स धर्मः परिगीयते ।।
जीवानां पुद्गलानां च कर्त्तव्ये गत्युपग्रहे ।
जलवन्मत्स्यगमने धर्मः साधारणाश्रयः ।।[1]

अर्थात् स्वयं क्रिया रूप परिणमन करने वाले क्रियावान् जीव और पुद्गलों को जो सहायता देता है, वह धर्मद्रव्य कहलाता है। जिस प्रकार मछली के चलने में जल साधारण निमित्त है, उसी प्रकार जीव और पुद्गलों के चलने में धर्मद्रव्य साधारण निमित्त है।

धर्मद्रव्य असंख्यात-प्रदेशी एवं एक है, अखण्ड है। किसी का कार्य नहीं।[2] उदासीन अर्थात् निष्क्रिय है। इसका अस्तित्व लोक के भीतर तो साधारण है, पर लोक की सीमाओं पर नियन्त्रण के रूप में है। सीमाओं पर ही पता चलता है कि धर्मद्रव्य भी कोई अस्तित्वशाली द्रव्य है, जिसके कारण जीव तथा पुद्गल अपनी यात्रा उसी सीमा तक करने को विवश है, उसके आगे नहीं जा सकते। आगे धर्मद्रव्य न होने के कारण जीव और पुद्गल में गति सम्भव नहीं है।[3]

अधर्म

लोक में जिस प्रकार जीव और पुद्गलों की गति में धर्मद्रव्य सहायक है, उसी प्रकार उनकी स्थिति में अधर्मद्रव्य सहायक है। अधर्म भी रूपादि रहित होने से कारण अमूर्तिक है। यह भी निष्क्रिय है। यद्यपि यह जीव और पुद्गलों की स्थिति में सहायक है, किन्तु यह जाते हुए जीव और पुद्गलों को स्वयं नहीं रोकता। आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं :

जह हवदि धम्मदव्वं तह तं जाणेह दव्वमधमक्खं।
ठिदिकिरियाजुत्ताणं कारणभूदं तु पुढवीव ।।[4]

अर्थात् जैसे धर्मद्रव्य गति में सहायक है, वैसे ही अधर्मद्रव्य स्थिर होने की क्रिया से युक्त जीव-पुद्गलों के लिए पृथ्वी के समान सहकारी कारण है। जैसे पृथ्वी अपने स्वभाव से अपनी अवस्था लिए पहले से स्थिर है और घोड़ा आदि पदार्थों को जबरदस्ती नहीं ठहराती, अपितु यदि वे ठहरना चाहें तो उनकी सहायक होती है। अथवा जैसे वृक्ष पथ में चलते पथिक को स्वयं नहीं रोकते, अपितु यदि वे रुकना चाहें तो उन्हें छाया अवश्य देते हैं, ऐसे ही अधर्मद्रव्य भी अपनी सहज अवस्था में स्थित रहते हुए जीव और पुद्गलों की स्थिति में सहायक कारण होते हैं।

अधर्म द्रव्य असंख्यातप्रदेशी, एक, नित्य, अखण्ड तथा किसी का कार्य नहीं है। उदासीन अर्थात् निष्क्रिय है। समस्त लोकाकाश में व्याप्त है तथा उसी के बराबर भी है। इसके अस्तित्व का पता लोकाकाश की सीमा पर जाना जाता है। लोकाकाश की सीमा समाप्त होते ही वहां धर्मद्रव्य भी समाप्त हो जाता है तब द्रव्यों (जीव और पुद्गलों) की गति उससे आगे नहीं हो पाती और स्थिति के लिए इसकी सहकारिता अपेक्षित होती है।

धर्म और अधर्मद्रव्य के कारण ही आकाश के लोकाकाश और अलोकाकाश ये दो भेद हुए हैं। जहां धर्माधर्म द्रव्य है वह लोकाकाश है तथा जहां ये नहीं है, वहां अलोकाकाश है। गति तथा स्थिति दोनों के ही कारण नहीं होती है। ये दोनों एक-दूसरे से भिन्न हैं, किन्तु एक ही क्षेत्र में रहने के कारण अविभक्त हैं।[5]

सिद्धसेन दिवाकर के मन में निश्चय नय से जीव और पुद्गल—ये दो ही सद्मूर्त (शुद्ध परिगृहीत) पदार्थ हैं।[6]

आकाश

लोक में जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म तथा काल को अवकाश देने वाला द्रव्य है,[7] साथ ही यह स्वयं अपने को भी अवकाश देने वाला है। रूपादि से रहित होने के कारण यह अमूर्तिक है। लोक में कोई ऐसा द्रव्य होना चाहिए जो सभी को अवकाश दे सके। यद्यपि ऐसा देखा जाता

१. तत्वार्थसार, ३/३३-३४
२. पंचास्तिकाय, गाथा ८३-८४
३. पं० महेन्द्र कुमार : जैन दर्शन, वर्णी ग्रन्थमाला, १९७४, पृ० १३१
४. पंचास्तिकाय, गाथा ८६
५. वही, गाथा ८७
६. निश्चय द्वात्रिंशिका-२४, १९/२४-२६
७. पंचास्तिकाय, गाथा ९०

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है कि पुद्गल द्रव्य आपस में अवकाश देने वाले हैं। जैसे मेज पर पुस्तक। यहां पुस्तक, जो पुद्गल है, को पुद्गल-द्रव्य मेज ने ही अवकाश दिया है, किन्तु मेज को अवकाश देने वाला कौन है वह ही है जो सभी आकाश को अवकाश देने वाला है। अवकाश दो प्रकार का है—लोकाकाश और अलोकाकाश। लोकाकाश वह है जहां जीव और पुद्गल संयुक्त रूप से रहते हैं तथा जो धर्माधर्मास्तिकाय और काल से भरा हुआ है। अलोकाकाश वह है—जहां केवल आकाश ही आकाश है, धर्म-अधर्मद्रव्यों का अभाव होने से वहां जीव और पुद्गलों की गति नहीं है। आकाश अनन्तप्रदेशी, नित्य, अनन्त तथा निष्क्रिय है। आकाश के मध्य चौदह राजू ऊंचा पुरुषाकार लोक है, जिसके कारण आकाश के लोकाकाश और अलोकाकाश दो विभाग हुए हैं। धर्म और अधर्म लोकाकाश में उसी तरह व्याप्त है, जैसे तिल में तेल।[१]

काल

काल भी द्रव्य है।[२] श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार काल औपचारिक द्रव्य है। वस्तुवृत्या यह जीव और अजीव की पर्याय है। जहां इसके जीव अजीव की पर्याय होने का उल्लेख है वहां इसे द्रव्य भी कहा गया है। ये दोनों कथन विरोधी नहीं किन्तु सापेक्ष हैं। निश्चय दृष्टि में काल जीव-अजीव की पर्याय है। और व्यवहार दृष्टि में यह द्रव्य है। उसे द्रव्य मानने का कारण उसकी उपयोगिता है—**उपकारकं द्रव्यम्** वर्तना आदि काल के उपकार हैं इन्हीं के कारण यह द्रव्य माना जाता है। पदार्थों की स्थिति आदि के लिए जिसका व्यवहार होता है, वह आवलिकादि रूप काल जीव अजीव से भिन्न नहीं है, उन्हीं की पर्याय है।[३]

दिगम्बर परम्परा में काल अणु रूप स्वीकार किया गया है। प्रत्येक लोकाकाश के प्रदेश पर एक-एक कालाणु रत्नों की राशि के समान अवस्थित है।[४] कालाणु असंख्यात हैं वे परमाणु के समान ही एकप्रदेशी हैं।

काल द्रव्य दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों परम्पराओं के अनुसार अनस्तिकाय है। श्वेताम्बर परम्परा की दृष्टि से औपचारिक और दिगम्बर परम्परा की दृष्टि से वास्तविक काल के उपकार या लिंग, पांच हैं **वर्तनापरिणामक्रियाः परत्वापरत्वे च कालस्य**[५] वर्तना परिणाम, क्रिया, परत्व और अपरत्व। वर्तना शब्द के दो अर्थ हैं वर्तन करना तथा वर्तन कराना। प्रथम अर्थ काल के सम्बन्ध में तथा द्वितीय अर्थ बाकी द्रव्यों के सम्बन्ध में घटित होता है। तात्पर्य यह है कि काल स्वयं परिवर्तन करता है तथा अन्य द्रव्यों के परिवर्तन में भी सहकारी होता है। जैसे कुम्हार का चाक स्वयं परिवर्तनशील (=घूमनेवाला) होता है तथा अन्य मिट्टी आदि को भी परिवर्तन कराता है उसी प्रकार काल भी है। संसार की प्रत्येक वस्तु उत्पादव्ययध्रौव्यात्मक होने से परिवर्तनशील है, काल उस परिवर्तन में निमित्त है। काल परिणाम (द्रव्यों का अपनी मर्यादा के अनुसार भीतर प्रतिसमय जो परिवर्तन होता है उसे परिणाम कहते हैं) भी कराता है। एक देश से दूसरे देश में प्राप्ति हेतु हलन-चलन रूप व्यापार क्रिया है। परत्व का अर्थ उम्र में बड़ा, और अपरत्व का अर्थ उम्र में छोटा है ये सभी कार्य भी काल द्रव्य के हैं। नयापन पुरानापन आदि भी कालकृत ही हैं।

काल के विभाग[६]

दिगम्बर परम्परानुसार काल निश्चय और व्यवहार के भेद से दो प्रकार का है। श्वेताम्बर परम्परानुसार काल चार प्रकार का है—प्रमाण-काल, यथायुर्निवृत्तिकाल, मरणकाल और अद्धाकाल। काल के द्वारा पदार्थ मापे जाते हैं इसलिए उसे प्रमाण काल कहा जाता है। जीवन और मृत्यु भी काल सापेक्ष है इसलिए जीवन के अवस्थान को यथायुर्निवृति-काल और उसके अन्त को मरण-काल कहा जाता है। सूर्य, चन्द्र आदि की गति से सम्बन्ध रखने वाला अद्धा-काल कहलाता है। काल का प्रधान रूप अद्धा-काल ही है। शेष तीनों इसी के विशिष्ट रूप हैं। अद्धा-काल व्यावहारिक है। वह मनुष्य लोक में ही होता है इसीलिए मनुष्य-लोक को समय-क्षेत्र कहा जाता है। निश्चय काल जीव-अजीव का पर्याय है। वह लोक-अलोक व्यापी है, उसके विभाग नहीं होते। समय से लेकर पुद्गल परावर्त तक के जितने विभाग हैं वे सब अद्धा काल के हैं। इसका सर्वसूक्ष्म भाग समय कहलाता है जो अविभाज्य होता है। इसकी प्ररूपणा कमल पत्रभेद और वस्त्र विदारण के द्वारा की जाती है। मन्दगति से एक पुद्गल परमाणु को लोकाकाश के एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश पर जाने में जितना समय लगता है उसे एक 'समय' कहते हैं। इस दृष्टि से जैन धर्म की समय की अवधारणा आधुनिक विज्ञान के बहुत समीप है। १९६८ की परिभाषा के अनुसार सीजियम धातु नं० १३३ के परमाणुओं के ९१९२६३१७७६ कम्पनी की निश्चित अवधि कुछ विशेष परिस्थितियों में एक सेकण्ड के बराबर होती है।[७]

१. उदाहरण मूल ग्रन्थों में नहीं है।
२. 'कालश्च', तत्वार्थसूत्र, ५/३९
३. जैन दर्शन : मनन और मीमांसा, पृ० १९३
४. तत्वार्थसार, ३/४४
५. तत्वार्थसूत्र, ५।२२
६. प्रस्तुत शीर्षक में वर्णित सामग्री, 'जैन दर्शन : मनन और मीमांसा' के आधार पर है।
७. द्रष्टव्य, नवनीत, भारतीय विद्याभवन, बम्बई, जून १९८०, पृ० १०६

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

समयों के समूहों से बनने वाली काल की भिन्न-भिन्न पर्याय निम्न हैं—

अविभाज्यकाल	एक समय
असंख्य समय	एक आवलिका
२५६ आवलिका	एक क्षुल्लक भव (सबसे छोटी आयु)
२२२३ १२२६/३७७३ आकलिका	एक उच्छ्वास—निःश्वास
४४४६ २४५८/३७७३ आवलिका या साधिक १७ क्षुल्लक भव या दो श्वासोच्छ्वास	एक प्राण
७ प्राण	एक स्तोक
७ स्तोक	एक लव
३८ १/२ लव	एक घडी (२४ मिनट)
७७ लव	दो घडी या ६५५३३ क्षुल्लक भव या १६७७७२१६ आवलिका या ३७७३ प्राण या एक मुहूर्त्त (४८ मिनट)
३० मुहूर्त्त	एक दिन रात (अहोरात्रि)
१५ दिन	एक पक्ष
२ पक्ष	एक मास
२ मास	एक ऋतु
३ ऋतु	एक अयन
२ अयन	एक वर्ष
५ वर्ष	एक युग
७० लाख क्रोड, ५६ हजार क्रोड वर्ष	एक पूर्व
असंख्य वर्ष	एक पल्योपम
१० क्रोडाक्रोड पल्योपम	एक सागर
२० क्रोडाक्रोड सागर	एक काल चक्र
अनन्त काल चक्र	एक पुद्गल परावर्तन

इन सारे विभागों को संक्षेप में अतीत प्रत्युत्पन्न (वर्तमान) और अनागत कहा जाता है।

इस प्रकार विश्व संरचना के सम्बन्ध में विस्तृत विवेचना जैन दर्शन में उपलब्ध होती है। जैन-दर्शन के अनेक सिद्धान्त ऐसे हैं जो आधुनिक विज्ञान से पूर्णतः मेल खाते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org